



धर्मशास्त्रों में वर्णित शिक्षा पद्धति

डा. अजय कुमार, सहायक प्राध्यापक
(इतिहास विभाग) हिन्दु महाविद्यालय, सोनीपत

वेदों, धर्मशास्त्रों और अन्य प्राचीन धार्मिक साहित्य में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ बताए गए हैं इनमें से प्रथम तीन (धर्म, अर्थ और काम) को साधन मानकर मोक्ष को साध्य और अन्तिम लक्ष्य माना गया। व्यक्ति का जीवन अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने के लिए अनुकूल बन जाए, इसी को ध्यान में रखकर धर्मशास्त्र लिखे गए। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद तथा पाराशर इत्यादि प्रमुख स्मृति ग्रंथों में इन्हीं नियमों को प्रतिपादित किया गया। इन स्मृतियों का मुख्य विषय धर्म है इसी कारण इन्हे धर्मशास्त्र भी कहा गया। मनुस्मृति वेदों के अर्थों को उपनिबद्ध करती है इसी कारण यह वेदों के अधिक निकट है और अन्य स्मृतियों के लिए कहा गया कि यदि वे मनुस्मृति के विपरीत होगी तो मान्य नहीं मानी जायेंगी।¹ मनुस्मृति में वेदों को ज्ञान का स्रोत माना गया है और कहा गया है कि सभी विधाएं, विज्ञान, कलाएं, धार्मिक व्यवस्था, धर्म और धर्मग्रन्थ सभी वेदों से निकले हैं।² धर्म शास्त्रों में समाविष्ट धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं विधि-सम्बन्धी विचार धाराओं के अध्ययन से हमें प्राचीन भारतीय समाज में शिक्षा के महत्त्व का ज्ञान होता है। समाज में शिक्षा के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। समाज का विकास अथवा उसका पतन शिक्षा व्यवस्था पर निर्भर है। सांस्कृतिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक प्रगति शिक्षा पर आधारित है, इसी कारण भारतीय मनीषियों ने शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया और व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को ही शिक्षा प्राप्ति के लिए सदैव तत्पर रहने को कहा है।³ किन्तु इस सामान्य विधान के साथ आश्रम व्यवस्था के अनुसार प्रथम आश्रम को विशेष रूप से शिक्षा ग्रहण करने का काल घोषित किया गया है। प्रथम आश्रम में रहकर विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्राप्त की जाती थी। इसके पश्चात् भी व्यक्ति तीनों आश्रमों ग्रहण, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में स्वयं को शिक्षित ही करता था। इन आश्रमों में आशा की जाती थी कि प्रत्येक आश्रम में व्यक्ति अपने कर्तव्यों को पूर्ण करता हुआ पूर्णता प्राप्त करे और अन्त में मोक्ष प्राप्त करे। अर्थात् मोक्ष प्राप्ति हेतु सभी चारों आश्रमों में पूर्णता प्राप्त करना अनिवार्य था। इसी कारण व्यक्ति जीवन प्रयन्त शिक्षा प्राप्ति के उन्मुख रहता था।⁴ इस प्रकार जीवन शिक्षा प्राप्ति के लिए था और शिक्षा व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन के लिए थी।



धर्मशास्त्रों में शिक्षा शब्द का अर्थ विशेषकर अभ्यास, विशेष शक्ति ज्ञान, इच्छा तथा सहन शक्ति की इच्छा अर्थात् सुख-दुख, प्रिय-अप्रिय इत्यादि के द्वन्द्वात्मक भावों में निर्णय शक्ति अथवा सहन शक्ति आना या इन्हे गंभीरतापूर्वक समझना और व्यवहार करने योग्य व्यवहार करना आदि के अर्थ में बताया गया है।⁵ शिक्षा शब्द का प्रयोग अनुशासन के अर्थ में भी किया गया है विशेषकर बौद्धिक और शारीरिक अनुशासन के रूप में। वस्तुतः इस क्षेत्र में आत्मबोध और आत्म निरोध की शक्ति होन से ही इनमें विकास संभव है। मनु और याज्ञवल्क्य शिक्षा के दो अर्थ अर्थात् प्रथम बौद्धिक और शारीरिक अनुशासन के संदर्भ में और दूसरा विद्या के संदर्भ में अर्थ लेकर शैक्षिक कार्यों के विषय में उल्लेख करते हैं। उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ होता था जहाँ से शिक्षा का प्रारम्भ माना जाता था। किन्तु प्रारम्भिक शिक्षा उपनयन संस्कार के पूर्ण ही आरम्भ हो जाती थी। स्मृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ग्रहस्थों से यह आशा रहती थी कि वे बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा उपनयन संस्कार से पूर्व घर पर ही प्रदान कर देंगे। यद्यपि सभी द्विनातियों के लिए शिक्षा के द्वार खुले थे। किन्तु वह सम्भव नहीं कि सभी शिक्षा ग्रहण करने में रुची रखते हो मंद बुद्धि अथवा शिक्षा में अरुची रखने वाले विधार्थियों की संख्या कम न रही होगी अतः योग्य विधार्थियों को ही शिक्षा देने के लिए चुनने का निर्देश दिया गया था। इस संदर्भ में मनुस्मृति में एक कथा कही गई है कि विद्या की देवी ने ब्रह्मण के पास जाकर कहा कि मैं तुम्हारा खजाना हूँ। मेरी रक्षा करो, जो मुझसे द्वेष करते हैं उनको मुझे प्रदान नहीं करना, इस प्रकार कर्म करने पर मेरी वृद्धि होगी, जिसे तुम पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझते हो उसे हमें प्रदान करो।⁶ यह भी कहा गया है कि एक वेदन ब्राह्मण के लिए विद्या के साथ मर जाना कहीं अधिक अच्छा है किन्तु घोर विपत्ति में भी किसी अपात्र को नहीं पढ़ाना चाहिए।⁷ छात्र कृतज्ञ, अद्रोही, मेघावी, पवित्रता से रहने वाला तथा आधिव्याधि से रहित, छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति से रहित छात्र को ही पढ़ाने की कामना की जाती थी।⁸ धर्मशास्त्रों में स्त्रियों की शिक्षा पर कोई विशेष वर्णन नहीं मिलते, स्त्रियों के लिए विवाह संस्कार को ही उपनयन स्थानीय मानते थे।⁹ इससे पूर्व स्त्रियों के जितने भी संस्कार होते थे वे सभी बिना किसी मंत्र के किये जाते थे।¹⁰ स्त्रियों के लिए घर के कार्यों में कुशल होने की बात कही गई है अतः इन कार्यों की निपूर्णता घर पर ही प्राप्त की जा सकती थी। ग्रहस्थ आश्रम में पति-पत्नि दोनों के शिक्षित होने पर ही धार्मिक कार्यों-कर्तव्यों का सम्पादन विधि-पूर्वक किया जा सकता है अतः इस संदर्भ में स्त्रियों को शिक्षा प्रदान करने की अवश्य व्यवस्था की गई होगी। धर्मशास्त्रों में गुरुकुल में पढ़ाई जाने वाली शिक्षा का वर्णन भी



मिलता है। उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्य आश्रम में सर्वप्रथम गुरु विद्यार्थियों को पवित्रता, नैतिकता और शुद्ध विचारों की शिक्षा (शौचाचार), समिधा आदि की व्यवस्था करना एवं प्रातः सांयकाल अग्निहोत्र करना (अग्निकार्य) तथा संध्योपासना आदि की शिक्षा प्रदान करता था।¹¹ निसंदेह शिक्षार्थी को प्रारंभ में ही शौचाचार की शिक्षा देना अत्यंत आवश्यक था क्योंकि पवित्रता में ही शुद्ध विचारों की जननी मानी गई है और इसके द्वारा ही नियमित और अनुशासित होकर शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। दूसरा उपनयन संस्कार से पूर्व बच्चे घर पर शौचाचार आदि के विषय में विशेष रूप से अनुशासित और नियमित नहीं रहते थे अतः यह आवश्यक माना गया कि शिक्षा प्रारम्भ होते ही शौचाचार पर ध्यान दिया जाए।¹² वैदिक ग्रंथों के अध्ययन से पूर्व शिक्षार्थी को गायत्री मंत्र का ज्ञान कराया जाता था। गायत्री मंत्र को उत्तम महत्वपूर्ण और व्यापक अर्थ का माना गया था। मनुस्मृति में उल्लेख किया गया है कि ब्रह्मा जी के प्रत्येक वेद से अ, उ, म्, (ओं) इन तीन अक्षरों को निकाला था। इसी प्रकार गायत्री मंत्र को भी ऋक्, यजुः तथा साम वेदों से ब्रह्मा जी ने ही निकाला है। अतः यह ओंकार और भूः भुवः स्वः ये ज्ञान के प्रथम अक्षर माने जा सकते हैं, अतः इनको ही सर्वप्रथम मनन करना चाहिए।¹³ इस ओंकार और गायत्री मंत्र को प्रातः-सांय काल अभ्यास करने को कहा गया। शिक्षार्थी को प्रारंभ में केवल ओंकार एवं भूः भुवः स्वः का अभ्यास करने का उपदेश दिया गया था, इनका अभ्यास होने के पश्चात् उन्हें इन अक्षरों की सारगर्भिता का परिचय कराया जाता था निसंदेह इस प्रक्रिया द्वारा विद्यार्थी को वेदों की महत्ता बतायी जाती थी और इसके माध्यम से वेदों का संक्षिप्त परिचय भी कराया जाता था। गायत्री मंत्र को विशेष महत्त्व प्राप्त था। वेद संहिताओं में गायत्री मंत्र का वर्णन मिलता है। इसे विद्यार्थी के ज्ञान संवेदनाओं को जागृत करने वाला माना गया था। “ओम्” भूः भुवः स्वः का प्रयोग गायत्री मंत्र को अधिक प्रभावशाली बनाने वाला माना गया था। इस एक मंत्र के उपदेश और उसके अभ्यास द्वारा ज्ञान की ग्रहणता का परिचय प्राप्त हो जाता था और माना जाता था कि इसके द्वारा विद्यार्थी की अंतः चेतना वेदाध्ययन की ओर उन्मुख होती है। शिक्षा के आरम्भ में ही बौद्धिक विकास के साथ-साथ शारीरिक क्षमता के विकास का भी पर्याप्त ध्यान रखा जाता था। इसके लिए प्राणायाम का विधान था। निर्देश था कि जितना समय पंद्रह अक्षरों के उच्चारण में लगता है उतनी देर प्राणायाम करना चाहिए।¹⁴ प्राणायाम के पश्चात् ओंकार करना होता था। गायत्री मंत्र का पाठ एवं प्राणायाम का अभ्यास विद्यार्थी के लिए प्रारम्भिक पाठ थे। इनके महत्त्व का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि यह एकाक्षर (ओं) ही सर्वश्रेष्ठ है। प्राणायाम से बढ़कर कोई दूसरा तप नहीं और गायत्री मंत्र से



श्रेष्ठ दूसरा मंत्र नहीं है।¹⁵ इसके पश्चात् वेदाध्ययन आरम्भ होता था। वेदों को ज्ञान का भण्डार माना जाता था। और सम्पूर्ण वेदों के अध्ययन को पूर्ण करने का अर्थ था सभी विद्याओं में पारंगत होना। सामान्यतः वेदों के साथ उपनिषदों का अध्ययन होता था।¹⁶ धर्मशास्त्रों में आचार्यदि के लक्षणों के उल्लेख हुए हैं उनसे तत्कालीन पाठ्य विषयों की जानकारी भी प्राप्त होती है। 'कल्प' और 'रहस्य' के साथ वेद पढ़ाने वाले को आचार्य तथा वेद के एक भाग को अथवा 'वेदांग' को जीविका निमित्त पढ़ाता हो उसे उपाध्याय कहा जाता था।¹⁷ प्रसंगवश ज्ञात हो जाता है कि उपनिषद् 'कल्प' के साथ वेद, वेदांग मुख्य पाठ्य विषय थे। धर्म शास्त्रों में पुराण, न्याय, मीकांक्षा, धर्मशास्त्र, वेदांत, वेदों सहित कुल चौदह विद्याओं के उल्लेख मिलते हैं।¹⁸ एक विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य आश्रम में वेद वेदांगों का अध्ययन तो करवाया ही जाता था, साथ ही साथ न्याय, मीमांसा का अध्ययन भी करवाया जाता था। धर्मशास्त्रों में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है कि ब्रह्मचारी को कौन-कौन से वेदों को अध्ययन करना आवश्यक होता था किन्तु अनेक ऐसे श्लोक मिलते हैं जिनमें ज्ञात होता है कि ब्रह्मचारी की बुद्धि अथवा योग्यता अनुसार ही उसे वेदों का ज्ञान करवाया जाता था और एक अथवा दो या सभी वेदों का अध्ययन व अभ्यास भी करवाया जा सकता था। यह नियम नहीं था कि सभी ब्रह्मचारियों को सभी वेदों का ज्ञान करवाया जाए। मनु एक स्नातक द्वारा गृहस्थाश्रम में प्रवेश के विषय में लिखते हैं कि वेदों का अध्ययन करने के लिए न्यूनतम पाँच वर्ष तथा अधिकतम बाहर वर्ष निर्धारित थे और इस अध्ययन काल में पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना अत्यंत आवश्यक था।²⁰ प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती थी कि वह गृहस्थ आश्रम में रहते हुए अपने सभी कर्तव्यों को पूरा करते हुए ब्रह्मचर्य आश्रम में पढ़े हुए पाठों को नित्य दोहरावें।²¹ कहा गया है कि शास्त्रों के विज्ञान तथा उनके रहस्यों को जितना मनन किया जाएगा उतना ही वह स्पष्ट होता है और उसमें रुचि भी उत्पन्न होती है।²² इस प्रकार नित्य अभ्यास द्वारा ही शास्त्रों को कण्ठस्थ किया जाता था और उन्हें मौलिक रूप से सुरक्षित भी रखा जाता था। वर्ष भर में ऋतुओं के अनुसार तथा विभिन्न अवसरों पर शास्त्रों को पढ़ने अथवा पढ़ने का विधान भी था। सावन, भादों की पूर्णिमा से साढ़े पाँच माह तक वेदाध्ययन तथा पौष अथवा माघ के पूर्वान्ह में वेदोत्सर्ग का कर्म करने की आज्ञा थी।²³ इसके पश्चात् दूसरे दिन तक कुछ भी अध्ययन न करने का विधान था। इसके उपरांत शुक्ल पक्ष में मंत्र ब्रह्मण से युक्त वेद तथा कृष्ण पक्ष में वेदांग का अध्ययन करने की आज्ञा थी। अमावस्या, अष्टमी तथा चतुर्दशी तिथियों को अध्ययन करने की आज्ञा नहीं थी।²⁴ धर्मशास्त्रों में द्विजातियों को ही उपनयन संस्कार तत्पश्चात् पढ़न-पाढ़न की आज्ञा थी। इन ग्रन्थों



में इसके स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलते कि शिक्षार्थी को उपरोक्त विषयों के ज्ञान के अतिरिक्त उन्हें उनके वर्णों के अनुरूप सौंपे गए कार्यों का ज्ञान भी कराया जाता था अथवा नहीं। यह भी उल्लेख नहीं मिलता कि उन्हें उनके वर्णों के अनुरूप कार्यों का ज्ञान कहां कराया जाएगा, किन्तु यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि वैश्यों को मणी, मुक्ता, मोती, लोहा, कपड़ा गंधक तथा रसों इत्यादि के विषय में ज्ञान होना चाहिए तथा उसे चाहिए कि वह कृषि सम्बन्धी जानकारी भी रखे। इसी प्रकार ब्राह्मण आदि वर्णों को भी अपने वर्ण अनुसार कार्यों का ज्ञान होना चाहिए।²⁵ मनुस्मृति में स्नातक धर्म के प्रकरण में कुल्लुक भट्ट ने टीका करते हुए स्नातकों के विधानपुण्यकाम और धर्मनैपुण्यकाम दो प्रकार बताए हैं। विधानैपुण्यकाम विधार्थी उसे कहा जाता था जिसमें विद्याओं में निपुणता प्राप्त करने की इच्छा है तथा धर्मनैपुण्यकाम विधार्थी वे कहलाते थे जो वेदादि का अध्ययन धार्मिक कार्यों में निपुणता प्राप्त करने के लिए करते थे।²⁶ लगता है ब्रह्मचर्य आश्रम में केवल ब्राह्मण ही वेदादि का पूर्ण अध्ययन करने का प्रयत्न करते थे अन्य ब्राह्मणैत्तर द्विज केवल इतना ही अध्ययन करते थे जिनसे वे अपने धार्मिक कार्य और उत्तरदायित्वों को धर्मानुसार पूर्ण कर सकें। इसके पश्चात् निसंदेह वे अपने पैतृक व्यवसाय अथवा अपने वर्णों के अनुरूप मान्य कार्यों में निपुणता प्राप्त करते थे। ब्रह्मचारी जीवन में गुरु के आश्रम में विधार्थी के साथ समानता का व्यवहार किया जाता था। द्विजाति शिक्षार्थी अपने वर्ण व्यवस्था के अन्तर से दूर रहकर अध्ययन करते थे। उच्च-निम्न, धनी-निर्धन की भावना को विधार्थी जीवन में स्थान नहीं दिया गया था। सभी ब्रह्मचारियों को चाहे वह राजकुल में उत्पन्न हुआ हो अथवा निर्धन कुल में गुरु के आश्रम में समान परिस्थिति में तथा वातावरण में साथ-साथ अध्ययन करना पड़ता था। विधार्थी जीवन सादा, अनुशासित, व्रतपूर्ण और संयमी होने के कारण धन को आवश्यकता न के बराबर होती थी, फिर भी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन अथवा अन्य वस्तुओं की आपूर्ति का उत्तरदायित्व अभिभावकों पर न होकर समाज पर था। धर्मशास्त्रों में विधार्थी द्वारा पालन किये जाने वाले नियमों एवं दिनचर्या का विस्तार से वर्णन मिलता है। विधार्थी को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना होता था। उन्हें मधु, मांस और रुचिकर खाद्य-पदार्थों का परित्याग करना पड़ता था। व्यक्तित्व में दया भाव विकसित करने के लिए उन्हें अहिंसा व्रत का पालन करना होता था। आरामदायक और शरीर को सुख देने वाली वस्तुएं इत्यादि उनके लिए वर्जित थी। उनकी वेश-भूष अत्यंत सादी होती थी अत्यधिक ग्रीष्म अथवा शरद् से बचने के लिए साधारण तथा न्यूनतम वस्त्र पहने जाते थे। अतिथि सत्कार तथा भावना लाने तथा अन्न के महत्त्व को समझने के लिए शिक्षार्थी को अपने तथा आश्रम के अन्य



सदस्यों के लिए भोजन का प्रबंध भिक्षा मांग कर करना पड़ता था। भिक्षा ग्रहण करने संबंधी नियम भी बनाए गए थे। अपने परिचित व्यक्ति से, संबंधियों के कुल में अथवा अपने गुरु के कुल में भिक्षा मांगना वर्जित था।²⁷ उन्हें नास्तिक, वेद निंदक तथा पापी व्यक्तियों के यहाँ से भी भिक्षा न लेने का आदेश दिया जाता था। इस प्रकार के नियम सार्थक थे क्योंकि अपने परिचितों, संबंधियों इत्यादि से भिक्षा प्राप्त करना सरल था और दूसरी ओर भिक्षा में अधिक अन्नाडी प्राप्त होने की सम्भावना भी थी, ऐसी दशा में भिक्षावृत्ति के कष्टों का अनुभव ब्रह्मचारी को न हो पाएगा। इसी प्रकार पापी व्यक्ति का सानिध्य, सम्पर्क इत्यादि वर्जित माना जाता था यहाँ तक की उसका अन्न भी दूषित माना जाता था। विद्यार्थी से भिक्षा द्वारा भोजन की व्यवस्था करवाना शिक्षा का एक अंग था। इस कार्य द्वारा अनेक उद्देश्य पूर्ण होते थे। प्रथम तो गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में गुरु द्वारा शिष्यों से शिक्षा के बदले निश्चित-पारिश्रमिक नहीं लिया जाता था और न ही ये संस्थान व्यवसायिक अथवा लाभ-हानि के आधार पर स्थापित होते थे इसके अतिरिक्त धार्मिक आधार पर लाभ प्राप्ति हेतु अध्यापन कार्य करना निंदनीय माना जाता था, साथ ही सादगी एवं सादा जीवन शिक्षा का एक अंग होने के कारण गुरु आश्रम को सदैव सामान्य एवं सादा रखने का प्रयत्न किया जाता था, इस कारण यह आवश्यक नहीं था कि गुरु आश्रम में प्रत्येक समय पर्याप्त संसाधन उपलब्ध रहें यद्यपि राज्य और समाज का नैतिक उत्तरदायित्व था कि वे इस प्रकार के शिक्षण संस्थानों को अभावग्रस्त न होने दें। किन्तु गुरुकुल में वस्तुओं के संग्रह पर बल भी नहीं दिया जाता था। अतः यह आवश्यक था कि विद्यार्थी अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति भिक्षा द्वारा करें। इसके अतिरिक्त भिक्षा कर्म द्वारा विद्यार्थी में विभिन्न प्रकार के मनोभाव जागृत होते थे जिससे कि भविष्य में गृहस्थ आश्रम में रहकर वह अपने अनुभवों के आधार पर धर्मानुसार अपने सभी कर्तव्यों को पूर्ण कर सकें। भिक्षा से सम्बन्धित आलस्य में सात दिन तक भिक्षाचरण, अग्निहोत्र आदि नहीं करता तो उसे 'अवकीर्ण' नामक व्रत करना पड़ता था।²⁸ एक ही घर से पूर्ण भिक्षा ग्रहण करना, संग्रह करने के उद्देश्य से अधिक मात्रा में भिक्षा लाना।²⁹ तथा गुरु की आज्ञा के बिना भोजन करना निषेध था। विद्यार्थी को गुरु के लिए जल, कुश, पुष्प इत्यादि और अन्य दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं की व्यवस्था भी करनी पड़ती थी। होम, अग्निहोत्र, संध्या के साथ-साथ भिक्षा कार्य भी उसके लिए नित्य कर्म थे। गुरु आश्रम में अनुशासन पर विशेष बल दिया जाता था। ज्ञानाभिलाषी ब्रह्मचारी अनुशासन का स्वभाविक रूप से पालन करते थे किन्तु बाल्यावस्था में त्रुटि होना स्वभाविक है अतः विद्यार्थी को दण्डित भी किया जाता था, लेकिन यह दण्ड विधान कठोर नहीं था। अनुशासनहीनता



करने वाले विद्यार्थी को सर्वप्रथम मधुरवाणी द्वारा समझाने का प्रयत्न किया जाता था न मानने पर अनुशासन के लिए रस्सी अथवा पतली बांस की छड़ी से केवल पीठ पर ही मारने का निर्देश दिया गया था।³⁰ इसका ध्यान रखा जाता था कि इससे कोमल अंगो पर आघात नहीं लगना चाहिए।³¹ इस प्रकार के निर्देश निसंदेह मनोविज्ञान पर आधारित थे। कठोर दंड विद्यार्थी में मनोविकार पैदा कर सकते हैं अतः यह आवश्यक था कि विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के विकास को अधिक महत्व देते हुए उस पर अत्यधिक कठोर बाह्य नियन्त्रण न रखते हुए उनमें आन्तरिक परिवर्तन लाने का अधिक प्रयास किया जाए। यद्यपि शिक्षा पद्धति द्विजाति में ही समिति थी किन्तु समाज में केवल वर्ण के आधार पर ही नहीं अपितु ज्ञान के आधार पर भी व्यक्ति सम्मान प्राप्त करता था। ब्राह्मण का महत्त्व उसके ज्ञान और सदाचरण के द्वारा माना गया था। सदाचरण और ज्ञान दोनों का समान महत्त्व था, पूर्ण सम्मान का अधिकारी होने के लिए सदाचारी और ज्ञानी होना आवश्यक था। यदि कोई ज्ञानी होते हुए भी दुराचार करता है तो अल्प ज्ञानी सदाचारी अधिक श्रेष्ठ समझा जाता था। इसी कारण कम उम्र का विद्वान व्यक्ति भी बायोवृद्ध व्यक्तियों से सम्मान प्राप्त करने का अधिकारी होता था।³² धर्मशास्त्रों में वर्णित शिक्षा पद्धति को पूर्ण रूप से व्यक्ति के आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक विकास को समर्पित कही जा सकती है इस शिक्षा पद्धति का उद्देश्य था कि व्यक्ति अपने जीवन के विभिन्न उत्तरदायित्वों को धर्मानुसार विधि-पूर्वक निर्वाह कर सकें, अपने वातावरण के अनुरूप अपने को बना सके और अपना आत्मिक विकास करते हुए पवित्र समाज का निर्माण कर अंतिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करें।

संदर्भ

1. बृहस्पति स्मृति – संस्कार 13
2. मनुस्मृति, 2-6,8
3. यावज्जीवमधीते विप्रः 11
4. मनुस्मृति, 4-19
5. संस्कृत रत्नाकर, शिक्षांक' 1940, पृ0 106
6. मनुस्मृति, 2-113, 114
7. वही, 2-112
8. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1-28
9. मनुस्मृति, 2-67; याज्ञवल्क्य स्मृति, 1-13
10. मनुस्मृति, 2-66
11. मनुस्मृति, 2-69; याज्ञवल्क्य स्मृति, ब्रह्म, 15
12. याज्ञवल्क्य स्मृति, ब्रह्म, 15 से 21
13. मनुस्मृति, 2-76, 77



14. वही, 2-75, कुल्लूक भट्ट
15. मनुस्मृति, 2-83
16. वही, 2-165
17. वही, 27140, 141; याज्ञवल्क्य स्मृति, 1, 3, 4, 35
18. याज्ञवल्क्य स्मृति 1, 3
19. मनुस्मृति, 3-2
20. वही, 3-1; याज्ञवल्क्य स्मृति, 1-36
21. मनुस्मृति, 4-19
22. वही, 4-20
23. वही, 4-95, 96
24. वही, 4-102, 113
25. वही, 1-321, 336
26. वही, 4-107
27. वही, 2-184
28. वही, 11-118
29. वही, 2-175 से 188; याज्ञवल्क्य स्मृति, 1-24 से 33
30. मनुस्मृति, 2-159, 299
31. वही, 2-300
32. वही, 2-150, 151, 152

सहायक ग्रंथ

- अग्रवाल, वी.एस. : भारतीय धर्म मीमांसा, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, 1979
- अवस्थी, शशी : प्राचीन भारतीय समाज, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1986
- उपाध्याय, बलदेव : वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदा संस्थान, वाराणसी, 1981
- उपाध्याय, राम जी : प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, देवभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966
- काणे, पाण्डुरंग वामन : धर्मशास्त्र का इतिहास भाग- 1-3, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1992
- गोखले, बी.जी. : प्राचीन भारत : इतिहास और संस्कृति, एशिया पब्लिकेशन हाउस, बम्बई, 1956
- जौहरी, मनोरमा : प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था, भारतीय विद्याभवन प्रकाशन, बम्बई, 1969
- ठाकुर, लक्ष्मीदत्त : प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1965
- दूबे, सत्यमित्र : मनु की समाज व्यवस्था, किताब महल, इलाहाबाद, 1964
- Basu, Jogiraj : India of the age of the Brahmanas, Calcutta, 1969
- Chakaladhar] H.C. : Social Life in Ancient India, Calcutta, 1929
- Mishra, Vibhuti : From the Vedas to the Manu Sanhita, Sterling Publication, New Delhi, 1982
- Bhushan
- Singh, U.N. : Ancient Indian Culture & Literature, Delhi Book Linkers, Delhi, 1980